

हिन्दी कहानियों में किसानों की संघर्ष चेतना : अतीत और वर्तमान

Dr. Joice Tom

Assistant Professor, Department of Hindi, Pavanatma College, Murickassery

Abstract

मिट्टी से जुड़ी हुई संवेदना बदल चुकी है। मिट्टी की आत्मा मर चुकी है। वह बंजर हो चुकी है और उसकी बेजान शरीर अब उपजाऊ नहीं बल्कि बिकाऊ हो चुकी है। मिट्टी की आत्मा के साथ किसान का हृदय भी सुनसान हो चुका है। मिट्टी के साथ वह अपने भी बदन की आहुती देने के लिए मजबूर हो चुका है। एक ही चिंता में माँ और बेटे की आहुती; नव उदारीकरण के नए माहौल में बंजर होती धरती की बढ़ती माप और कृषक आत्महत्या की संख्या में आ गई वृद्धि इस वर्तमान विडंबना को प्रामाणित करते हैं। समकालीन कहानियाँ भी इस तथ्य को यथातथा वाणी देती हैं, फिर भी कभी-कभार इस अयाचित पंथाव के खिलाफ अपना उत्कट प्रतिरोध भी प्रकट करती हैं।

‘दि नेशनल क्रैम ब्युरों’ के मुताबिक 1997 से लेकर 2008 तक कुल 199132 किसानों ने आत्महत्या कर दी। नव उदारीकरण के समकालीन दौर में एक तरफ सरकार खाद्य की सप्लाइयों कम करती जा रही है तो दूसरी तरफ फसल की मात्राएँ कम होती आ रही हैं। ऊपर से सूखा, बाढ़, भूचाल जैसे प्राकृतिक दुर्घटनाएँ भी किसान का जीवन बरबाद कर रही हैं। महाजनी सभ्यता अब भी किसानों की जिन्दगी का अभिशाप है। अपनी पहाड़ सी जिन्दगी को या तो वे अधूरे छोड़ने में मजबूर हो जाते हैं या मजदूर बनकर शहर की तरफ निकल पड़ते हैं। भारतीय किसान का समकालीन जीवन यथार्थ इस तरह है।

अतीत और वर्तमान के दृष्टिकोण में आये बदलाव की दस्तावेज़ स्वयं कहानियाँ ही हैं। प्रेचन्द से लेकर 2005 तक की कहानियों को अगर देखा जाय, जिनमें किसानों का जीवन अंकित है, तो यह बदलाव साफ दृष्टिगोचर होता है।

किसानों का संघर्ष : पूर्व पीढ़ी की कहानियों में

प्रेमचन्द की ‘पूस की रात’ कहानी में खेती छोड़ने के लिये आमादा किसान ‘हल्कू’ का चित्रण मिलता है। हल्कू मेहनती है। खेत में मडैया डालकर वह अपनी खेती की देखरेख करता है, चाहे वह जाड़े की रात ही क्यों न हो। लेकिन फसल कभी पेट भरने के लिये काफी नहीं बनती। एक तरफ दिनों दिन बढ़ती सूद तो दूसरी तरफ जानवरों की हमला उसकी कड़ी मेहनत को बेमोल साबित करती रहती है। पत्नी सलाह देती रहती है कि खेती छोड़कर मजदूरी करना चाहिये - “तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर-मर के काम करो, उपज है तो बाकि दे दो, चलो छुट्टी हुई। बाकि चुकाने के लिये तो हमारा जनम हुआ है। पेट के लिये मजदूरी करो। ऐसी खेती से बाज आये।”ⁱⁱⁱ लेकिन खेती तो किसान का आदर्श है। उसे वह कैसे छोड़ सकता है। इसलिये वह जाड़े की उस रात भी जानवरों से खेती बचाने मडई में चला जाता है। लेकिन मेहनती किसान को होश लगता तो अजीब हालातों से ही। जाड़े का ठंड, चैन से नींद की मजदूरत चाहत, बेकार होती मेहनत और सूद-खोरों का लूट-खसोट, वह मेहनती किसान आखिर खेती छोड़ने का ऐतिहासिक निर्णय

लेता है, मानो मौजूदा व्यवस्था के साथ पैना विद्रोह हो। जाड़े की सिहरती रात में अपने पके खेत को नीलगायों को सौंपकर, बुझती अलाव के निकट अपने फटे-पुराने कंबल में वह नींद का सुख लूटता है, जिसकी उसे बरसों से इंतज़ार था। अगले दिन अपनी उजड़ी खेती देखकर उसे खुशी होती है, मानो किसी बला हाथ से टल गया हो। वह खुशी से कहता है - "रात की ठंड में यहाँ सोना तो नहीं पड़ेगा।" ⁱⁱⁱ इधर एक आदर्शवान किसान यथार्थवादी बनता है।

'सवा सेर गेहूँ' में भी समान सन्दर्भ है। कहानी में किसान खेती से मज़दूरी तथा मज़दूरी से गुलामी की तरफ गिरता चला जाता है। घर आये साधु को भोजन दिलाना चाहिये, वह भी अच्छे से अच्छे भोजन। संस्कृति का मामला है। 'शंकर' स्वयं मक्का खाकर जीता है, लेकिन साधु केलिये वह विप्रजी से सवा सेर गेहूँ उधार ले आता है। तब उसे क्या पता था कि सवा सेर गेहूँ की कीमत सात सालों में सत्तर रुपया हो जायेगा। उसकी साल भर के कड़ी मेहनत से भी सत्तर रुपया नहीं जुड़ता है। इसलिये थोड़ी-थोड़ी सी वह चुकाता रहता है। लेकिन पता नहीं कौनसा मायाजाल से, वह जितना चुकाता है उतना कर्ज बढ़ता ही जाता है, जिसे वह मासूम समझ नहीं पाता है। कर्ज चुकाते-चुकाते वह विप्रजी का आजीवन गुलाम बन जाता है। उसकी मौत के बाद कर्ज का भार अपने बेटे को सौंपता चला जाता है। 'पूस की रात' से यह कहानी इसलिये अलग है कि कहानी के अंत में विनती स्वरूप एक लेखकीय उपस्थिति मौजूद है जिसमें प्रेमचन्द माननीय पाठकों को सूचित करते हैं कि यह कपोल कल्पित नहीं; ऐसे विप्रजी तथा किसानों से दुनिया खाली नहीं। दर असल प्रेमचन्द प्रतिक्रिया पाठकों से भी चाहते थे।

अपने जी-तोड़ मेहनत को बेमोल पाकर किसान के मनःपरिवर्तन को प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किया है- "शंकर साल भर तक तपस्या करने पर भी जब ऋण से मुक्त होने में सफल न हो सका, तो उसका संयम निराशा के रूप में परिणत हो गया। उसने समझ लिया कि जब इतने कष्ट सहने पर भी साल भर में साठ रुपये से अधिक न जमा कर सका, तो अब कौनसा उपाय है जिसके द्वारा इससे दूना रुपया जमा हो। जब सिर पर बोझ ही लादना है, क्या मन भर का और क्या सवा मन का? उसका उत्साह क्षीण हो गया, मेहनत से घृणा हो गयी। आशा उत्साह की जननी होती है, आशा में तेज़ है, बल है, जीवन है। आशा ही संसार की संचालक शक्ति है। (लेकिन शंकर में वह आशा कहाँ, वहाँ निराशा ही निराशा है।) शंकर अशाहीन होकर उदासीन हो गया। वे ज़रूरतें जिनको उसने साल भर में टाल कर रखा था, वे अब द्वार खड़ी भिखारिणियाँ नहीं, बल्कि छाती पर खड़ी पिशाचिनियाँ थीं, जो अपनी भेंट लिये बिना जान नहीं छोड़तीं। कपड़ों में चकत्तियों के लगने की भी एक सीमा होती है। अब शंकर को चिट्ठा मिलता तो वह रुपये जमा न करता, कभी कपड़ा लाता कभी खाने की कोई वस्तु। जहाँ पहले तम्बाखू ही पिया करता, वहाँ गाँजे और चरस का भी चस्का लगा। उसे अब रुपये जमा करने की कोई चिंता न थी, मानो उसके ऊपर किसी का एक पैसा भी नहीं आता। पहले जूड़ी चढी होती थी, वह काम करने अवश्य जाता था। अब काम पर न जाने का बहाना खोजा करता" ^{iv}

किसान के पतन की अगली कड़ी 'कफन' के घीसू-माधव में हम देख सकते हैं। माधव की औरत झोंपड़ी के भीतर प्रसव-पीड़ा से तडप रही है, जहाँ माधव और उसके पिता घीसू बाहर बैठकर आलू भुनकर खा रहे हैं मानो उसकी मौत के इंतज़ार में हो। जब से वह औरत उस घर आयी थी, उसने उस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी। पिसाई करके या घास छीलकर वह सेर भर आटे का इंतज़ाम कर लेती थी और इन दोनों बेगैरतों का दोजख भरती रहती। वहीं औरत आज प्रसव वेदना से तडप रही थी और दोनों शायद इसी इंतज़ार में थे कि वह मर जाये तो आराम से सोएँ। मेहनतकश वर्ग की इस तरह की मानसिकता के कारण भी प्रेमचन्द ने लिखा है - "जिस समाज में रात-दिन मेहनत करनेवालों की हालत

इनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी नहीं थी और किसानों की मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मानसिकता का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। "v प्रसव पीडा में बुधिया मरती है। उसके कफन का पैसा गाँववाले इकट्ठा कर देते हैं। लेकिन दोनों बाप-बेटे उसे दारू-खाने में उडा देते हैं।

इनसान की बुनियादी लडाईं आखिर भूख से है। एक दफा भरपूर खाने को मोहताज इन बाप-बेटों को बुधिया का कफन भर-पेट खाने का बहाना बन जाता है। मरते-मरते बुधिया बाप-बेटे की ज़िन्दगी के सबसे बड़ी ख्वाहिश पूरी कर जाती है। दोनों के पेट की आग में सामाजिक नैतिक भावना, आस्था की गहनता, रिश्तों की नरमियत तथा चरित्रपरक आदर्श सब कुछ पच जाती है। इस तरह प्रेमचन्द के किसान खेती से मज़दूर, मज़दूरी से गुलामी तथा गुलामी से तीव्र व्यक्तिवादी नकारात्मक विद्रोहात्मकता की तरफ गिरता चला जाता है। सुख और चैन की ज़िन्दगी उनको एक अतिमानवीय परिकल्पना लगते हैं।

उपर्युक्त अतिमानवीयता के प्रति आराधना अमरकांत की 'फर्क' कहानी में विद्यमान है। कहानी में एक लडका चोरी के इलज़ाम में थाने पहुँचाया जाता है। वह लडका भूख के मारे चोरी करता था। मौके पर इधर-उधर से कपडा-बरतन चुराकर अपनी क्षुधा शांत करता था। लेकिन गाँववालों को वही सबसे बड़ा अत्याचारी है। वे उसे मार-पीटकर, गाली-गलौज का हार पहनाकर हवालात में डलवाते हैं। उनके विचार में 'देश को इन्हीं लोगों ने चौपट कर दिया है'।

उस समय इलाके का सबसे खतरनाक डाकू-सुखई डाकू थाने लाया जाता है। उसे देखते ही गाँववालों की हुलिया बदलती है। सभी उनकी तरफ इस तरह देखते हैं मानो कोई देवता का दर्शन हुआ हो। सभी उसका गुणगायन करने लगते हैं - "अरे भाई ये भगवान से भी नहीं डरते। उलीस-पुलीस क्या चीज़ है। यहीं 205 कत्ल कर चुका है।.....यह जिसको चाहे उठा ले जाय। पर यह है कैरक्टर का बडा सँचा। भले घर की स्त्रियों की तरह आँख उठाकर भी नहीं देखता। "vi प्रत्येक क्षेत्र में विजयी बनते खलनायक की अतिमानुषिकता किसान को आकर्षित करती है। अपनी हीनता तथा पराजय की तुलना में खलनायक तथा उसकी अमानवीयता की कामयाबी किसान को चुनौति देती है।

शेखर जोशी की 'हलवाहा' कहानी में खेती छोडकर मज़दूरी में लगे किसानों का जिक्र है। ऐसे माहौल में निम्नस्तर का एक ब्राह्मण किसान हल लेकर स्वयं अपना खेत जोतता है, जिसकी परम्परा की सीख हल छूना भी पाप या मौत ठहराती है। इधर मजबूरी परम्परा का अतिक्रमण करती है। यह कहानी एक तरफ रूढियों से मुक्ति प्रस्तुत करती है तो दूसरी तरफ उजडती खेती को चित्रित करती है।

दरअसल पूर्व पीढी की कहानियाँ किसानों के पराजय को चित्रित करती हैं। अपने जीवन को सम्भलाने पाने से वह स्वयं हीन समझने लगा था। सामाजिक मूल्यों पर अनास्था अमानवीयता के प्रति आराधना पैदा करने लगा था। नतीजतन समाज से परे किसान मौका परस्ती बनने लगता है। वह शोषण को झेलने के साथ-साथ स्वयं सहजीवियों का शोषक भी बन जाता है।

अस्सियोत्तर कहानियों में किसानों का संघर्ष

पुरानी पीढी की तुलना में नई पीढी शोषण के खिलाफ ज्यादा सक्रिय है। ओम प्रकाश वात्मीकि की 'पच्चीस चौका डेढ सौ' कहानी में एक अनपठ गाँवार किसान का चित्रण हुआ है, जिसे चौधरी नामक सूद-खोर बरसों से ठगता आ रहा है। वह बूढा किसान अपनी बीबी की बीमारी के इलाज केलिये बरसों पहले चौधरी से उधार लिया था। उसका चुकता भी करता आ रहा था। लेकिन वह कभी खतम न होता था। आसल में चौधरी पच्चीस चौके का सौ के बगैर डेढ सौ का गलत पहाडा बताकर किसान को चकमा देता आ रहा था। उसमें से बीस रुपया निकालकर अपनी रहमदिली दिखाना भी नहीं भूला था। किसान उसे

चौधरी का एहसान मानकर कर्ज, जो कभी नहीं खतम होता, चुकाता आ रहा था। चौधरी के तो दोनों हाथों में लड़्डू।

लेकिन किसान का बेटा शहर जाकर पढता है और नौकरी कमाता है। वह अपनी पहली तनख्वाह को पच्चीस पच्चीस के चार पुलिन्दों में बांटकर पिता को समझाता है कि पच्चीस चौका डेढ सौ नहीं बल्कि सौ है। चौधरी पर बरसों के अपने विश्वास को चकनाचूर पाकर वह किसान इतना ही कह पाता है कि - “कीडे पड़ेगे चौधरी, कोई पानी पिलानेवाला भी नहीं रह जाएगा।”^{vii} किसान का बेटा सुदीप पुरखों की गुलामी को बड़ी सहजता से समाप्त करता है।

असगर वजाहत के ‘ऊसर में बबूल’ कहानी में एक किसान का चित्रण हुआ है जो केवल ‘हाँ’ मालिक ‘हाँ’ कहना ही जानता है। मढकू नम्बरदार का हलवाहा है, उसकी दया पर जीता है। पूरे गाँव में नम्बरदार का अतंक भरा हुआ है। वह जब चाहे मढकू का घर पधार सकता है। उसके आते ही मढकू को अपनी पत्नी की शय्या छोड़ना पडता है - ‘नम्बरी को देखते ही सडकू का पिता सिडकू को खींचते हुए बाहर छप्पर के नीचे आ बैठता था और सिडकू को टाँकों के बीच में दाबकर सुला लिया करता था। कभी-कभी अन्दर से नम्बरी की आवाज़ आती-अबे मढकू बीडी ले आ। सिडकू का पिता तीर की तरह उठता।’^{viii} अगली सुबह नम्बरदार उसे एक रुपया सौंप देता था। मढकू की पत्नी भी पति हलवाहा होने के नाते अपने ऊपर नम्बरदार का अधिकार मानती थी - “तुम्हारा बापु ओकार हलवाहा है। ओके पास से खाय का मिलता है।”^{ix} रोटी के सामना क्या कभी नैतिकता रख सकता है, मजबूर किसान। उसकी आत्मा कबका मर चुका है। सबके सामने अपने बेटे को मारता पाकर भी मढकू नम्बरदार के खिलाफ कुछ बोल नहीं पाता है। लेकिन सिडकू बाप की तरह नहीं है। बाप की अकर्मण्यता उसे अखरती है - “बाबू क्या नम्बरी से कुछ न कह सकता था ? रोक तो नहीं सकता था, पर क्या और कुछ कह न सकता था ? हँसता न तो क्या हो जाता था।”^x वह बाबू से और घृणा करने लगता है और पिटने लगता है फिर भी वह लडना नहीं छोडता है। जब भी उसे कोई पीटता, वह रात में उसका खेत उजाड डालता, मौका मिलते ही वह नम्बरदार की खेत से ऊख, शकरकन्द, आदि चुराता, आलू की खेती उजाडता। वह नम्बरी के बैलों को धतूरा खिलाता है। बैल पगलाकर गुड भरी गाडी के साथ तालाब में कूदते हैं। गाडी को थूनी रखी जाती है ताकि पूरी तरह न डूब जाए। लेकिन सिडकू थूनी गिराता है। पिता जब उसे रोकने आता है, तो उसके सिर पर लाठी दे मारकर भाग जाता है।

नरेन्द्र निर्मोही की ‘पर्नोट’ कहानी में भी नयी पीढी की नयी संवेदना चित्रित है। सत्तो का पिता कहता था कि इज्जत ही सबकुछ है- “लाख बार समझाया कि इज्जत ही सबकुछ है। इज्जत नहीं तो सबकुछ स्वाह न ! तू ही बता कि सब पुरुखों की मिट्टी दे दूँ उन्हें। उन्होंने कर्ज लिया है तो हमारे खातिर ही। कोई चोरी-चाकरी तो नहीं की”^{xi} सत्तो का पिता पत्नी को समझाता है। वह घरवालों को दूध पिलाने की लालसा में एक भैंस ले आता है। लेकिन भैंस के आते ही कर्जदार उन्हें लूटने लगते हैं। बिशन पण्डित धर्म-कर्म के वास्ते दान की खाते में पाव किलो दूध रोज़ लगवा देता है। सुरतू लंपट ‘मामले का हौआ’ दिखा आधा किलो दूध रोज़ बटोरने का हीला कर लेता है और सुखू शाह पर्नोट बदलने के नाम पर दो किलो दूध रोज़ बांध लगवा लेता है। आखिर घरवालों के हिस्से में सूनी हॉटि ही बचती है। सत्तू के पिता का ज़मीन सुखू शह के यहाँ गिर्वी रखी गई थी। उसकी वसूली के नाम पर बैलों की नीलामी होती है। वह सबके सामने सत्तो के पिता को ज़ालिम दिखाता है। हालातें आखिर सबक सिखाते हैं कि गरीब की वाकई कोई इज्जत नहीं

रहती -“सत्तू की अम्मा अगर में जानता होता कि गरीब की कोई इज्जत नहीं होती तो तुझे चरखा न बेचने देता।.....सत्तू-तारो को दूध पीने से नहीं रोकता.....सत्तू इज्जत नेकदिली के लोभ में अपनी देह न गलना...। अखिर उस वेदना में सत्तो का पिता मरता है।

लेकिन सत्तू अपनी देह नहीं गलाता है। वह रात के सन्नाटे में सुरतू लंपट के यहाँ से अपना बैल खोल लाता है और अपना ज़मीन जोत देता है। फिर सुखू शाह के घर में घुसकर उसके सारे परनोट जला देता है। दलाली एवं सूदखोरी का अंत करता है। इस तरह सत्तो अपने मित्रों की सहायता से एक नवोत्थान को वाणी देता है।

ये सारी कहानियाँ ज़मीन को केवल मिट्टी बनने से बचाता है। लेकिन इसका दूसरा पक्ष भी है जहाँ कहानियाँ अलग संवेदना प्रदान करती है।

किसान के जीवन का मतलब ही ज़मीन है। वह उसका ज़मीर समझ सकता है। उसकी सारी होड अपने ज़मीन से सोना उगालने केलिये है। ज़मीन एवं किसान के बीच मान और ईमान का सम्बन्ध है, जो विरासत के तौर पर मिलती है। ज़मीन के जुडाते रिश्ते-संबन्ध ही उसकी जीव-वयु है। लेकिन नयी पीढियों में ऐसे भी अनेक हैं, जो मिट्टी के सौगन्ध से आनजान हैं।

कैलाश बनवासी की 'बज़ार में रामधन' कहानी में रामधन का भाई मुन्ना अपने पुखों की सम्पत्ति, दो बैलों को बेचकर कोई कारोबार शुरू करना चाहता है। वह पढा लिखा नौजवान है ' देश को आगे ले जाने वालों में से एक है। फिलहाल नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटक रहा है। अपनी फिरकापरस्ती खतम कर कोई छोटा-मोटा धन्धा शुरू करना चाहता है। अब नौबत रामधन पर यह आयी कि मुन्ना उसके बैलों को बेचने का ठान ले बैठा है। जब रामधन के पिता इन बैलों को नीलामी में खरीद ले आये थे, तब ये दोनों केवल बछड़े ही थे। तबसे रामधन की निगरानी में ही पलने लगे थे। खेत जोतना, बैल गाडी में फाँदना, उनसे काम लेना उनके दाना-भूसा का खयाल रखना, उनको नहलाना-धुलाना और उनके बीमार पडने पर इलाज के लिये दौड-भाग करना सब रामधन के जिम्मे में था। लेकिन आज उसे बेचने की नौबत आई हुई है।

बाज़ार में, रामधन के चंगे बैलों की बडी मांग होती है। अच्छे से अच्छे दाम बताये जाते हैं। यहाँ तक साढे तीन हज़ार की रकम बतायी जाती है अपितु रामधन चार हज़ार पर अडा रहता है। दरअसल रामधन अपने बैलों को बेचना नहीं चाहता। उस किसान का जीवन उन बैलों के साथ जुडा हुआ है जिसे नयी पीढी समझ सकती है कभी, हर्गिज़ नहीं। कहानी में रामधन को अपने बैलों से बात करते हुए चित्रित है, मानो बैल भी इनसान की तरह हो-“आखिर तुम हमें कब तक बचाओगे रामधन ? कब तक?”^{xii} उपभोगी संस्कृति के माहौल में अपने बैलों के सवाल का वह ठीक जवाब नहीं दे पाता। उसके मूँह से बस यों ही निकलता है कि अगले रोज़ शायद मुन्ना तुम्हें बाज़ार ले आ सकता है। ज़माना ऐसा आ गया है कि किसान अपने वजूद को संभाल नहीं सकता। एक सांस्कृतिक गत्यंतरण के सम्मुख अपने ज़मीन, अपनी ज़िन्दगी एवं उससे जुडे रिशतों को कायम रखने में हतभागे किसान संघर्षरत है, चाहे वह बेचने का झूठा नाटक रचाकर क्यों न हो। वह बता नहीं सकता है कि अपनी बपौति को कितने दिनों तक वह सम्भल पायेगा। फिर भी कोशिश जारी है।

ज़मीन में गल-गलकर सिमटते किसानों की कहानियाँ और भी हैं। संजीव की 'माँ' कहानी में एक औरत का चित्रण है जिसने अपना सारा जीवन मिट्टी की गोद में बिता दी है। अपनी पुश्तैनी खेती को वह अकेली सम्भालती है। उसके पति, बेटे, दादा, देवर, भाई भतीजी सब उनसे अलग अपनी अपनी ज़िन्दगी खुशहाली से बिताते हैं। लेकिन फसल कटाने पर अपना अपना हिस्सा मांगने आ टपकते हैं। अपना हिस्सा

हडपकर माँ को छोड़ चले जाते हैं। फिर भी माँ हलवाहे की सहायता से मिट्टी से सोना उगाती हैं। लेकिन बच्चों को यह गवार नहीं होता। जाने किस इरादे से वे माँ का हलवाहे के साथ नाजायज़ संबन्ध ठहराते हैं। लेकिन माँ को सिर्फ़ अपने ज़मीन पर ही भरोसा है। वह औलादों को चुनौति देती है कि जो चाहे समझलो, जो करना है कर लो, उसे कोई फरक नहीं पड़ता। यह आत्मविश्वास उसे अपनी मिट्टी की देन है। आखिर गैंग्रीन से ग्रसित होकर उसी मिट्टी में वह मरती है।

उजड़ते रिश्तों की कहानियाँ और भी हैं, जिन्हें ज़मीन जुटाती है। उदय प्रकाश की 'छप्पन तोले का करधन' कहानी में एक बिखरते परिवार का चित्रण हुआ है। परिवार की दर्दनाक हकीकत को कहानीकर इस तरह प्रस्तुत किया है - "फूफा मर गये थे, पिताजी महीनों से घर नहीं आ पाते थे, चाची बाँच रह गयी थी, पानी नहीं बरसता था हमारे चारों खेत बिक चुके थे। पिछवाड़े की आखिरी ज़मीन गिरवी रखी थी" ^{xiii} ऐसे माहौल में उजड़ते परिवार को संभालने का एकमात्र उपाय छप्पन तोले का वह करधन ही है, जिसे दादा ने दादी को दिया था। उसे हथियाने की जिजीविषा में वे दादी को भूखों मारते हैं। उजड़ी खेती के माहौल में रिश्तों में आयी अमानवीयता की यह मार्मिक दृष्टांत हृदयभेदी है।

मिथिलेश्वर की 'हरिहर काका' कहानी में भी समान सन्दर्भ है। हरिहर काका बेऔलाद है। परिवार के पास पुश्तैनी सम्पत्ती बतौर कुल साढ़ बीघे ज़मीन हैं, जिनके चार भाई समान हकदार हैं। हिसाब के मुताबिक एक चौथा हिस्सा याने पन्द्रह बीघा ज़मीन हरिहर काका का है। शारीरिक कमज़ोरी की वजह हरिहर काका खेती में हाथ बांट नहीं सकता। इसलिये घर में उसकी उपेक्षा हो रही है। दरअसल 'उस संयुक्त परिवार में उसे कोई पानी देनेवाला तक नहीं। घर की बहुएँ ठहर चौका लगाकर पंखा झलते हुए अपने मरदों को अच्छे-अच्छे व्यंजन खिलाती हैं। हरिहर काका के आगे तो बची-खुची चीज़ें ही आतीं। कभी-कभी तो रूखा-सूखा खाकर ही हरिहर काका को संतोष होना पड़ता। इस पर भी औरतें पीठ-पीछे भुनभुनाती-फुसफुसाती, जैसे हरिहर काका को वे खाना क्या खिलाती हैं, उपकार करती हैं।' आखिर हरिहर काका ऐलान करता है कि वह अपनी ज़मीन नौकरों की सहायता से स्वयं संभालना चाहता है। यहीं से समस्या शुरू होती है।

इलाके के ठाकुरबारी में खबर पहुँचती है कि हरिहर काका घर छोड़नेवाले हैं। ठाकुरबारी का महंत बता-फुसलाकर हरिहर काका की ज़मीन ठाकुरबारी के नाम कराने का प्रयत्न करता है। खबर पाकर भाई भी हरिहर काका को लेने पहुँचते हैं। इस पर मामला बिगड़ती है और ठाकुरबारी और भाइयों के बीच मार-पीट होती है। गाँववाले भी दो पक्ष में खड़े होने लगते हैं। आखिर हरिहर काका फैसला ले लेता है कि जीते जी अपनी ज़मीन किसी के नाम नहीं करेगा। -"मेरे बाद तो मेरी जायदाद इस परिवार को स्वतः मिल जायेगी इसलिये लिखने का कोई अर्थ नहीं" ^{xiv} तो अब हरिहर काका की मौत एक अनिवार्य परिणति बन जाती है। 'सबके मन में यह बात है कि हरिहर काका कोई अमृत पीकर तो आये हैं नहीं। एक न एक दिन उन्हें मरना है। फिर एक भयंकर तूफान की चपेट में यह गाँव आ जायेगा। उस वक्त क्या होगा कुछ कहा नहीं जा सकता। यह कोई छोटी लड़ाई नहीं, बड़ी लड़ाई है। जाने-अनजाने पूरा गाँव उसकी चपेट में आयेगा ही" ^{xv} इस वजह लोगों को भय भी है और प्रतीक्षा भी। एक ऐसी प्रतीक्षा कि झुठलाकर भी उसके आगमन को टाला नहीं जा सकता।

उपजाऊ ज़मीन जिन्दगी कायम करती है। लेकिन इस कहानी में ज़मीन की वजह सारा ज़माना हरिहर काका के गुज़रने के इंतज़ार ठानकर बैठे हैं। ज़मीन से जुड़ी संवेदना बदल चुकी है। ऐसे माहौल में

हरिहर काका जैसों को अपनी मौत का इंतज़ार करना ही एकमात्र उपाय है। इधर ज़मीन उपजाऊ नहीं बल्कि बिकाऊ बनती है। वह रिश्तों को निर्धारित करती है।

ज़मीन के नाम पर भाइयों की आपसी लड़ाई को टालने केलिये इलाहाबाद के पहाड़ी इलाके में एक प्रथा प्रचलित है। संजीव की 'हिमरेखा' कहानी इस पर केन्द्रित है। प्रथा के अनुसार स्त्री ही बच्चों को जन्म देती है और स्त्री से ही बंटवारा शुरू होती है। इसलिये प्रत्येक परिवार में केवल बड़ा भाई ही शादी कर सकता है। लेकिन उसकी पत्नी सबकी पत्नी होती है। यानी सभी का उस पर समान अधिकार है। उसकी कोख से जनम लेते सभी बच्चे चाहे वह बड़े भाई के हो या छोटे भाई के, भाई होकर रहेंगे। पहाड़ियों केलिये उपजाऊ ज़मीन ही सोना है। उसके बंटवारे से बहतर वे बीवी की बंटवारा सही समझते हैं। गाँव की बूढ़ी औरत कौशल्या देवि भाइयों की अलग-अलग शादियाँ रचाने के हादसे के बारे में समझाती है - "अरे खेती तीन जगह बांट जाती की नहीं? एक नाली खेती पहाड़ी फाटकर कितनी मेहनत से निकल पाता है। ऐसे खेत पीढ़ी-दर-पीढ़ी टुकड़े-टुकड़े होते चले जाएँ, कौन चाहेगा इसे? स्त्री ई तो घर को बाँधे है बेटा, एक से दो, हुई नई कि मुआसा (परिवार) फूटा, खेत टूटा।" ^{xvi} लेकिन किसान की शिक्षित नयी पीढ़ी को इसे मानना असंभव है। कहानी में कपिल इलाहाबाद में पढाई के बाद घर लौट आया है। अब रिवाज़ के अनुसार उसे भाभी के साथ रात गुज़ारनी है। वह सिर्फ सात साल का था जब भाभी घर आयी थी। उसकी माँ के गुज़रने के बाद भाभी ने ही उसे नहलाया-धुलाया, खिलाया, पिलाया था। भाभी उसके लिए माँ थी। लेकिन रिवाज़ कहती है कि माँ नहीं बीवी है। माना तो माँ बनेगी बीवी, न माना तो देश निकाला, आखिर बकरे की माँ कब तक खैर बनाएगी। कपिल रिवाज़ को मानता है। वह भाभी के साथ रात गुज़ारता है। लेकिन मन के बहाव को कौन रोक पाता है। उसे गलती का एहसास होने लगता है। वह कागज़ का एक टुकड़ा निकालता है, उस पर सिर्फ इतना लिखता है कि 'तुम माँ थी सिर्फ माँ' और उसे भाभी की ऊँगलियों में फँसाकर खेत में चला जाता है और आत्महत्या कर देता है। रिश्तों के बीच जब ज़मीन अटकती है, तो इनसान की बलि अनिवार्य हो जाती है।

संजीव की 'आरोहण' कहानी के भूप दा की राय में मिट्टी केवल मिट्टी नहीं है, ज़िन्दगी है। पहाड़ी इलाके में अपनी पत्नी के साथ वह अकेला रहता है। पिछली 'लेंड स्लाइड' में बाकि सभी पहाड़ छोड़कर जा चुके हैं। लेकिन भूप दा की ज़िन्दगी उस मिट्टी से जुड़ी हुई है, जिसे वह छोड़ नहीं सकता- "कौण कहता है अकेला हूँ, हयाँ माँ हैं, बाबा हैं, शैला है....., सोये पडे है सब। यहाँ महीप है, बल्द है, मेरी घरवाली है, मौत के मूँह से निकाले गये खेत हैं, पेड है, झरणा है। इन पहाड़ों में मेरे पुरखों, मेरे प्यारों की आत्मा भटकती रहती है। मैं उनसे बात करता हूँ। मैं अकेला कहाँ हूँ?" ^{xvii} कुछ साल पहले पहाड़ में बहुत बर्फ गिरा था। पहाड़ उसका बोझ नहीं उठा पाया। वह धसक गया था। उस बहाव में भूप दा के तीस नाली खेत, मकान, माँ-बाप सब दब गये मलबे में। भूप दा छानी पर था इसलिये बच गया। दस-दस किलोमीटर तक जगह-जगह धँसाव हुए थे। रास्ते बदल गये, झरने बदल गये, नदियाँ बदल गयीं थीं। इतनी बड़ी तबाही हो चुकी थी, मौत की तरह फैला हुआ म्याल। लेकिन वह किसान का मन उस नन्हीं चिडिया के समान है, जिसने जान छुड़ाने केलिये गीध से भी ऊपर उडने का दावा किया था। वह अपना सारा ज़ोर आसमाकर गीध के पीठ पर जा बैठा था, और गीध से भी ऊपर उडा था। इस तरह भूप दा भी मौत के पीठ पर बैठकर उसे हरा देता है। "इसी तरह मैं भी आ बैठा मौत के इस पीठ पर, उसी की जिसने मेरा सब कुछ निगल लिया था। धीरे-धीरे मलबा हटाता रहा यहाँ का। थोड़ी बहुत खेती शुरू करी। अकेला-अकेला लगा तो एक औरत ले आयी नीचे से.....शैला के आने से खेती फैल गई, बर्फ जमी न रहे, सो हमने खेतों को ठलवाँ

बणाय़ा, मगर एक मुसीबत, पाणी कहाँ से आये। एक दिन पाणी की खोज में चढ गये हम उस हिमाँग के साबुत ऊँचे हिस्से पर। वहाँ हमने देखा एक झरने थूँ ही उस तरह सुपित में गिर रहा था। उसे मोड लेने से पाणी की समस्या हल हो सकती थी, मगर बीच में ऊँचा था, याणी के पहाड काटना था। हमने क्वार के दिन चुने जब रात को बरफ जमने लगती थी, दिन को पिघलने लगती थी, मगर थोडी-थोडी। याणी उतना भी नहीं कि धार तेज़ हो, इतना भी नहीं कि बरफ जमकर सख्त हो जाये। बडी मेहनत की हम लोगों ने लेकिन झरने को मोड लाने में सफल हो ही गये आखिर। "xviii वह मेहनती अधेड उम्र का आदमी प्रकृति से लड-लडकर अपनी बपौति वापस ले लेता है, जिससे उसकी आत्मा जुडी हुई है।

हृशिकेश सुलभ की 'फज़र की नमाज़' कहानी में अपनी ज़मीन एवं परिवार की रक्षा के लिये खुदा से प्रार्थना करते एक बूढे किसान का चित्रण है। उजडी खेती, बिका हुआ खेत, दूभर होती ज़िन्दगी, ऐसे माहौल में आगे की सोचना उस की बस की बात नहीं है। कुछ साल पहले की बात दूसरी थी। दस-दस कट्टे के चार टुकडे यानी दो बीघे उपजाऊ ज़मीन के मालिक थे बदरू। दो बेटे, लतीफ और मेहन्दी के बीच एक बेटी बासीरत, कुल तीन औलादों का संतुष्ट परिवार। पर नसीब के खेल के सामने कौन टिक पाता है। पहली बार उसके खेत तब बिके जब ब्याज की बढती रकम ने सब कुछ निगलना शुरू किया था। बिना कोई सूचना के एकाएक इलाके के सबसे बडे चीनी का मिल को मालिकों ने बन्द कर दिया था। दो सालों के गन्ने का पैसा मिल में रह गया। मिल खुलने के इंतज़ार में गन्ना खेत में ही सूख गया था। अगले साल इस उम्मीद में खेती लगायी कि शायद खुल जायेगा। वह फिर करज लेकर खेती लगाई गई, उसका तो डूबना सुनिश्चित था। करज से बचने का एकमात्र उपाय ज़मीन का एक चौथा हिस्सा बेचना ही था, बेच दिया। मेहनती किसान केलिये अपना ज़मीन कितना जीवंत है, बदरू की प्रतिक्रिया यह बात स्पष्ट है - "जिस दिन कचहरी में बयनामे के दस्तावेज़ पर अंगूठा लगाकर वह घर लौटा, उस रात बच्चों की तरह बिलख-बिलखकर रोते रहे। उन्हें अपने अंगूठे पर घिन आने लगी थी। जी करता उसे काटकर फेंक दें।"xix

अपने ज़मीन के दस कट्टे के दूसरा टुकडा तब बिका था, जब उसका बेटा अरब जाकर पैसा कमाने का ठान ले बैठा था। लतीफ अरब गया, पैसा कमाया लेकिन बदरू के घर लौट नहीं आया। वह ससुराल रहने लगा था। तब केवल एक बीघे के ज़मीन से घर पालना मुशकिल हो गया था, तो उसका आधा हिस्सा बेचकर मेहन्दी को अरब भेजता है। लेकिन उसकी लाश ही घर लौटती है। किसमत के खेल में उस बूढे किसान की सारी कोशिश परास्त होता है। ऐसे माहौल में किसान आत्महत्या कर सकता है लेकिन वह बूढा रातों रात अपने बचे हुए खेत में चटाई बिछाकर फज़र की नमाज़ अदा करता है, इस उम्मीद में कि अगर आसमान में उमड आये बादल बरसें तो बचा हुआ दस कट्टे का खेत पानी से तर जायेगा, तो उसमें रोपने-हल चलाने मेहन्दी ज़रूर आयेगा। उसकी उम्मीद, ज़िन्दा है।

उजडी खेती को साक्षी मानकर, अपने परिवार को पीछे छोड किसान शहर की तरफ भाग रहा है। पीछे खेती तथा परिवार की ज़िम्मेदारी बूढे माँ-बाप या औरत पर पडती है। एक तरफ शारीरिक कमज़ोरी, दूसरी तरफ सामाजिक मजबूरी। संजीव की 'जसी बहू', कहानी में एक औरत अपने पति की खेती की देख-रेख में हाड तोडती है। गन्ने की खेती की सिंचाई केलिये वह गाँव भर घूमती-फिरती है। आखिर अधिकारियों को बतला-फुसाकर रात को नल में पानी खुलाती है। पानी खेत को सींच रहा था कि बीच में किसी ने नाली काट दी। आखिर अपनी बेटी भुइली को नाली में लिटाकर वह बहाव रोकती है। भुइली को निकालने तक उसकी हाथ-पैर सन्न हो चुके थे। भोर तक आफत होने पर भी खेत पूरा वह सिंच नहीं पाती। आखिर बचे हुए खेत को हाथ से पानी उलीच-उलीचकर सिंचाती है। अकेली औरत होने के नाते किसी से वह मदद भी नहीं माँग सकती।

उतनी कड़ी मेहनत के बावजूद अपनी मेहनत भोगने का अधिकार उसे नहीं। उसके आँगन की इमली को रातों रात ठाकुर काट गिराता है। आम पहली बार फला था, रात ही में साफ; लौकि कुम्हड़ा तक न बचा था। सरसों फूलते ही उखाड़ लिये जाते थे। कैसी विडम्बना है कि उस मेहनती, खुद-इख्तियार औरत को पछाड़ने में पूरा गाँव इकट्ठा है।

ज़मीन से जुड़ी संवेदना बदल चुकी है। आँसू बहाकर भी सही, कहानियाँ उसे मान रही हैं और उसे स्वीकारने में हिचक रही हैं। प्रेमचन्द की 'पूस की रात', 'कफन' जैसी कहानियों में जो खेती छोड़ने की बात बतायी गयी है, किसान की नई पीढ़ी भी उसका अनुगमन कर रही है। उजड़ती खेती, बढ़ते कर्ज तथा सिकुड़ते आँतों के सामने मज़दूरी ही किसान को जायज लगती है। मिट्टी की आत्मा मर चुकी है। मिट्टी अब उपजाऊ नहीं बल्कि बिकाऊ है। उसके जुड़ाते रिशतों में बिखराव आने लगा है। फिर भी किसानों की ऐसी एक परम्परा है जो हारकर भी हार न मानती। स्वयं मिटकर भी अपने वजूद को कायम रखती है। उसकी पवित्रता को बनाये रखती है। बाज़ार में रामधन, आरोहण, पर्नोट जैसी कहानियाँ उनके दृष्टांत हैं। पर आखिर कब तक....

References

- i Suicide since 1997, the hindu, 22 january, 2010 ,
- ii प्रेमचन्द, पूस की रात, मानसरोवर-4, पृ.157
- iii प्रेमचन्द, पूस की रात, मानसरोवर-4, पृ.161
- iv प्रेमचन्द, पूस की रात, मानसरोवर-4, पृ. 163
- v प्रेमचन्द, कफन,
- vi अमरकांत, फरक, अमरकांत की सम्पूर्ण कहानियाँ
- vii ओम प्रकाश वात्मीकि, पञ्जीस चौका डेढ सौ, दलित कहानी संचयन, सं. रमनिका गुप्ता
- viii असगर वजाहत, ऊसर में बबूल, उनका डर तथा अन्य कहानियाँ, पृ.105
- ix वहीं
- x असगर वजाहत, ऊसर में बबूल, उनका डर तथा अन्य कहानियाँ, पृ.105
- xi नरेन्द्र निर्मोही, पर्नोट, ग्राम्य जीवन की कहानियाँ, सं गिरिरज शरण, पृ.97
- xii बाज़ार में रामधन, कैलाश बनवासी, हंस, आगस्त 2006, पृ.71
- xiii उदय प्रकाश, छप्पन तोले का करधन, तिरिछ, पृ.61
- xiv मिथिलेश्वर, हरिहर काका, दस प्रतिनिधी कहानियाँ, पृ. 106
- xv वहीं, पृ.110
- xvi हिमरेखा, संजीव, संजीव की कथायात्रा: दूसरा पडाव,
- xvii आरोहण संजीव, संजीव की कथायात्रा: दूसरा पडाव, पृ.326
- xviii आरोहण, संजीव, संजीव की कथायात्रा: दूसरा पडाव, पृ.322
- xix फज़र की नमाज़, हृषिकेश सुलभ, हंस आगस्त 2006, पृ.145।